International Journal of Sanskrit Research 2023; 9(2): 167-169

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2023; 9(2): 167-169
© 2023 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 17-12-2022
Accepted: 20-01-2023

सुश्री प्रेम खराड़ी
शोधार्थी, मोहनलाल सुखाड़िया
विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान, भारत

Corresponding Author:
सुश्री प्रेम खराड़ी
शोधार्थी, मोहनलाल सुखाड़िया
विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान, भारत

वेदों में सामाजिक जीवन

सुश्री प्रेम खराड़ी

प्रस्तावना

वैदिक मंत्रों में देवताओं का अधिक वर्णन होने के कारण धार्मिक सामग्री की अधिकता होने पर भी कतिपय लौकिक सूक्तों तथा ऋचाओं में उस युग की समाजशास्त्रीय सामग्री मिलती हैं। भारतीय समाज के विकास एवं संगठन के मूल में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा हैं। सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए वर्ण-व्यवस्था की महती आवश्यकता मानी गयी। वर्ण-व्यवस्था सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष -सूक्त में मिलता हैं, परंतु यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में चारों वर्णों का उल्लेख अनेक बार हुआ हैं। वर्ण-व्यवस्था में चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान नियत था। सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए समाज के इन चार अंगों का विधान किया गया है-

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद बाहू राजन्य कृत:।
उरु तदस्य यद् वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत् ।।[1]

अर्थात् इन चारों वर्णों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से हुई है। ब्राह्मण की उत्पत्ति मुख से, क्षत्रिय की भुजाओं से, वैश्य की जंघाओं से, और शूद्र की उत्पत्ति विराट् पुरुष के पैरों से मानी गई हैं। कहने का तात्पर्य यह हैं कि समाज में चारों वर्णों के कर्तव्यों का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ हैं –

1. **ब्राह्मण का कर्तव्य-** वेदों का अध्ययन-अध्यापन, यज्ञानुष्ठान, धर्मसंबंधी सभी कार्य।
2. **क्षत्रिय का कर्तव्य-** राष्ट्र की रक्षा और प्रजापालन।
3. **वैश्य का कर्तव्य-**देश-देशांतर से व्यापार करना, धन कमाना, कृषि -पशुपालन करना।
4. **शूद्र का कर्तव्य-** श्रम साध्य सभी कार्य करना एवं उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना।[2]

शूद्र शिल्प कार्यों में दक्ष होते थे। ऋग्वेद के मुख्य भाग में वर्णगत कर्मवाच्य की सूचना नहीं मिलती हैं, लेकिन कभी-कभी एक ही परिवार में पुरोहित वैद्य और सत्तू पीसने के व्यवसायों का उल्लेख मिलता हैं।[3] वैदिक वर्ण-व्यवस्था गुण और कर्म पर आधारित थी। इसका आधार पेशा था, न कि ''जन्मना' जन्म से। कोई भी शिक्षा के क्षेत्र को चुनने वाला ब्राह्मण हो सकता था। और सैन्य-सेवा से संबंद्ध होने पर क्षत्रिय।

वैदिककाल में चारों वर्णों में सामजस्य प्रेम और सद्भाव था। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, स्पृश्य-अस्पृश्य आदि का सर्वथा अभाव था। चारों वर्णों को वेदों के अध्ययन का अधिकार था।[4] यजुर्वेद और अथर्ववेद में चारों वर्णों की सुख-समृद्धि और तेजस्विता की प्रार्थना की गई हैं।[5] चारों वर्णों में जाति-व्यवस्था अर्थात् जन्मना जाति का उल्लेख नहीं हैं। वेदों में शूद्रों को समानता का अधिकार दिया गया है। उन्हें कहीं भी हीन नहीं माना गया हैं, शूद्रों को भी वेद पढ़ने का अधिकार दिया गया है। रथकार (बढ़ई) कर्मार, (शिल्पी), सूतों का राजा के निर्वाचकों एवं राज्य-संचालकों में स्थान दिया गया। ये सभी शूद्र वर्ण से संबंधित थे।[6]

प्रारंभ में यह वर्ण-व्यवस्था विशुद्ध रूप से बाधारहित सामाजिक जीवन के लिए बनायी गयी थी, परंतु कालांतर में उच्च वर्ण के स्वार्थी प्रतिनिधियों ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए इस सुन्दर व्यवस्था को दूषित करना आंरभ कर दिया। वर्णों की व्यवस्था कर्म-गुण के आधार पर न होकर जन्म के आधार पर हो गयी।

आश्रम-व्यवस्था

वेदों में आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम के विषय में बहुत सामग्री मिलती हैं। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के बारे में कम सामग्री मिलती हैं। वर्ण-व्यवस्था के मूल में जहाँ सामाजिक सुव्यवस्था की भावना निहित थी,

वहाँ आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्तिगत जीवन की समृद्धि था। मानव जीवन की समृद्धि हेतु चार आश्रमों का विधान किया गया जो क्रमश: ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के नाम से ज्ञात हैं। मानव की औसत आयु 100 वर्ष मानकर जीवन को 25-25 वर्षों के अन्तर से चार आश्रमों में विभक्त किया जाता था।

(1) ब्रह्मचर्य आश्रम

यह उपनयन संस्कार से प्रांरभ होकर समावर्तन संस्कार के साथ समाप्त होता था। उपनयन संस्कार शिक्षारम्भ का प्रतीक माना जाता था। इस संस्कार के उपरांत शिष्य और शिष्याएँ वेद और शास्त्रों का अध्ययन किया करते थे। बालकों के समान ही बालिकाओं का भी यज्ञोपवीत होता था और वे मेखला पहनती थी।[7] बालिकाओं को गृहकार्य और ललित कलाओं की शिक्षा देकर सुयोग्य गृहिणी बनाया जाता था। जिस प्रकार विवाह से पूर्व बालकों को ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था, उसी प्रकार बालिकाएँ भी ब्रह्मचारिणी रहती थी।[8]

ब्रह्मचर्य के नियमों में मुख्य हैं- संयमी और तपस्वी जीवन बिताना, भोग- विलास की सामग्री से दूर रहना तथा अनुशासित दिनचर्या। यह कठोर अनुशासित जीवन ही उनके भावी जीवन को सुखमय बनाता था। बालक स्नातक होने पर विवाह करते थे, कुछ आजीवन ब्रह्मचारी रहते थे। इसी प्रकार कुछ बालिकाएँ भी स्नातक होकर विवाह कर लेती थी, उन्हें 'सद्योद्वाहा' कहते थे और कुछ आजन्म ब्रह्मचारिणी रहती थी उन्हें 'ब्रह्मवादिनी' कहा गया हैं। ये तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए शास्त्रचर्चा में लीन रहती थी। बालक -बालिका ही नहीं, अपितु आचार्य के लिए भी अनिवार्य था कि वह पूर्ण संयमी हो।9

वैदिक ऋषियों ने संयमित जीवन को विशेष महत्त्व देते हुए कहा हैं कि जो पुरुष संयमी नहीं होता, उसे परमात्मा का साक्षात्कार कभी नहीं हो सकता है। मन, वाणी तथा शरीर तीनों का संयम होना आवश्यक हैं। जो पुरुष अपनी इन्द्रियों का संयम रखता हैं, और मन को वश में रखता हैं, व्यर्थ बोलकर वाणी-विलास नहीं करता, ऐसे व्यक्ति को देवता कहा गया हैं। संयमी बनना ही मनुष्य जीवन का सर्वोच्च फल हैं।[10]

ब्रह्मचर्य की महत्ता को बताते हुए कहा गया है कि-जैसे जल सहित नदियाँ सभी का उपकार करती हैं, और कभी जल से हीन नहीं होती वैसे ही ब्रह्मचर्य से युक्त स्त्री और पुरुष की संतानें जन्म लेकर, धर्म संबंधी ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को प्राप्त कर अपनी विद्वता से सभी का उपकार कर सकती हैं।[11]

(2) गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद गृहस्थाश्रम का प्रारंभ होता है। वेदों में गृहस्थ दम्पती के कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया गया हैं। पत्नी के कर्तव्यों में विशेष बातें यह हैं कि पुरुष को आश्रय प्रदान करने वाली स्त्री घर के समान मानी गयी हैं।[12]

कन्या को पति गृह में संतानों से युक्त, गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों पति से प्रेम करने वाली, वृद्धावस्था में पति सहित अपनी संतानों को उत्तम उपदेश देने वाली अपनी पूर्णायु पति-पत्नी एक साथ रहते हुए अपने पुत्र-पौत्रादि सहित आमोद-प्रमोद पूर्वक जीवन यापन करते हुए सदा प्रसन्न रहे।[13] पति-पत्नी सद्व्यवहार में अवस्थित रहकर सौभाग्य और समृद्धि को प्राप्त करें। पति के संबंध में पत्नी के मन में आदर की भावना बनी रहें तथा पति भी पत्नी के प्रति मधुर वाणी का प्रयोग करें।[14]

पत्नी को सेवा करने वाली, कल्याणकारी नियमों का पालन करने वाली, पति को कष्ट न पहुँचाने वाली, पतिगृह में देवर, सास, ससुर की सेवा करने वाली, पशुओं का हित करने वाली, मन में प्रसन्नता धारण करने वाली, वीर संतानों की उत्पत्ति करने वाली तथा परिवार के सभी लोगों को सुख की अनुभूति कराती हुई सबकी हितकारिणी बताया गया हैं।[15]

पत्नी अपने पति को पाकर अत्यंत सुशोभित हो। यह घर की रानी होकर श्रेष्ठ पुत्रों को उत्पन्न करने वाली हों तथा अपने पति से कभी विरोध न करें और सभी वस्तुओं का सेवन करती हुई पति के साथ प्रसन्नतापूर्वक रहें।[16] पति-पत्नी के नेत्रों में परस्पर मधुर अपनत्व का भाव विघमान रहें, दोनों के नेत्रों में पवित्रता का अंजन रहें तथा दोनों का मन, हृदय एक समान धारणा वाले हो।[17] पुत्र अपने पिता के अनुकूल चलने वाला हो, और माता के साथ समान विचार वाला हो, उसी प्रकार पत्नी अपने पति से मधुर वाणी में बोलने वाली हो।[18] पति-पत्नी सदा उद्यमशील हों, नवीन उद्योग करें, उद्यमी को ही इस संसार में सुख की प्राप्ति होती हैं।[19]

पारस्परिक एकता की भावना

व्यक्तियों के मेल से समाज का निर्माण होता हैं। प्राचीन भारतीय समाज वर्तमान युग की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित व सुखमय था। उस समय समाज कई वर्गों में विभक्त था, लेकिन सब लोग आपस में मिलजुलकर एवं सद्भावना से रहते थे। ऋग्वेद का संज्ञान-सूक्त इसी आशय को व्यक्त करता हैं-

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं मनांसि जानतां।
देव भाग यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।[20]

अर्थात् जिस प्रकार पुरातन काल में देवता एकमत होते हुए यज्ञभाग को ग्रहण करते थे, ठीक उसी प्रकार आप सब भी एक साथ मिलकर चलों, साथ-साथ बोलों, सबके मन एक हो, एक-दूसरे के प्रति विद्वेष भाव न हों। समान एवं एक रूप से सभी अभिप्रायों को समझने वाले हो। अगले मंत्र में-

समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:।
समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति ।।[21]

अर्थात् आप लोगों का आचरण और व्यवहार ऐसा होना चाहिए, जिससे आप परस्पर प्रेमपूर्वक एक साथ निवास कर सकें और उसके लिए आवश्यक है कि आपके हृदय ओर मन एक जैसे हो, लेशमात्र की भेदभाव न हो। इसके अतिरिक्त आप जो भी संकल्प ग्रहण करें, उसमें विविधता न हो, सामजस्य हो, एकता हो।

परस्पर हृदय खोलकर एक मत होकर कर्मशील बने रहो। तुरंत जन्मे बछड़े को छेड़ने पर गाय जैसे सिंहनी बनकर आक्रमण करने दौड़ती है, ऐसे ही तुम लोग भी सहृदयजनों की आपत्ति में रक्षा करने के लिए कमर कसे रहो।[22] मनुष्य दूसरों की वृद्धि देखकर कभी ईर्ष्या न करें। दूसरों की उन्नति अथवा सुख को अपना ही सुख और उन्नति माने।[23] समस्त मानवता में मैत्री भावना का विकास हो, इसीलिए ऋषियों ने मंत्रों के माध्यम से कहा है कि हम सब मिलजुलकर ऐसे प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो सकें।[24]

विविध भाषाओं को बोलने वाले, अनेक विचार और क्रियाकलापो वाले, बहुत प्रकार के आकार-प्रकार और रंग-रूप वाले लोगों-जैसे एक परिवार के छोटे-बड़े लोग घर में रहते हैं, वैसे ही हमारी यह धारण योग्य मातृभूमि उन सभी मनुष्यों को एक परिवार की तरह धारण करे। जैसे बिना हिले-डुले, निश्चल, स्थिर भाव से खड़ी गाय अपने स्तनों से दूध की धारा देती है, वैसे ही सभी को अन्न, धन,फल-फूल, सोना-चाँदी, ताँबा लोहा आदि देकर समृद्ध करें।[25]

माता-पिता, गाय, स्वजन और सम्पूर्ण जगत् कुशलता से रहे। हम सब उत्तम ज्ञान तथा श्रेष्ठ ऐश्वर्य से परिपूर्ण होकर, सूर्य-दर्शन करते हुए सौ वर्षों तक स्थिर है।[26] मनुष्यों को आपस में विद्वेष की भावना नहीं रखनी चाहिए, आपस में प्रीतियुक्त सौमनस्य बढ़ाने वाले कार्य करने चाहिए। आपस में उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिए, जिस प्रकार पैदा हुए बछड़े से गाय प्रेम किया करती है।[27]

एक भाई दूसरे भाई से द्वेष न करे और बहन अपनी बहन से द्वेष न करे। वे सब एक विचार और कार्य वाले होकर परस्पर मंगलमय वार्ता करें।[28] परस्पर विरोधी विचार वाले मनुष्यों के मन, विचार और संकल्प को एकभाव से युक्त करके उनके विरोधी कार्यों को अपने अनुकूल बनाये।[29] पारस्परिक सहयोग, सद्भाव, समन्वय और सहायता करना ही मानवता का प्रथम कर्तव्य है। जो अकेला खाता है, वह पापी है।[30] यजुर्वेद में पारस्परिक एकता के विषय में कहा गया है कि तू मुझे दे और मैं तुझे देता हूँ, तू मुझमें उत्तम गुण धारण कर और मैं तुझमें उत्तम गुण धारण करता हूँ, यह मैं लेता हूँ और यह तू स्वीकार कर।[31]

वेदों के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व में उदारता, निस्पृहता, सामाजिक एकता तथा समानता की प्रवृत्ति का विकास करना नियत था, जिसमें किसी प्रकार के एकाधिकार और अनावश्यक संचय के लिए कोई स्थान नहीं था। इसीलिए तो कहा गया हैं कि ''सौ हाथों से संचय करों और सहस्त्र हाथों से उसका वितरण करों। अर्थात् वैदिक

काल में एक और तो उद्योगशील बने रहकर धन और यश प्राप्ति की प्रवृत्ति का भान होता है, वहीं दूसरी और अर्जित की गई सम्पति को मुक्त हाथों से वितरित करने की उदारता का भी पता चला है ।[32]

वैदिक काल में जुआ खेलने की अत्यधिक परम्परा रही होगी क्योंकि ऋग्वेद के दशम मण्डल के 34 वें सूक्त में ऋषि कवष ऐलूष ने जुआ खेलने से जुआ खेलने वाले जुआरी तथा उसके परिवार की स्थिति के बारे में बताया गया है कि जुआ जुआरी की रातों की नींद तथा दिन का चैन छीन लेता है। जुआरी पासों के प्रभाव में आकर प्रेम करने वाली, उत्तम गुणों से युक्त अपनी पत्नी को जुएँ में दाँव पर लगाकर हारने के पश्चात् अत्यन्त दु:ख होता है। जुआरी को उसकी सास भी प्रेम नहीं करती है, पत्नी भी उसके विरुद्ध आचरण करती है । कोई भी ऐसे लेशमात्र भी पसन्द नहीं करता है ।[33]

जो व्यक्ति अपने धन सम्पत्ति को जुआ खेलने में लगाने लगता है । इस प्रकार के जुआरी व्यक्ति की पत्नी को दूसरे जीतने वाले जुआरी, केश, वस्त्रादि खींचकर उसके अंगों को स्पर्शादि करके अनेक प्रकार से अपमानित करते है। वह जुआरी जब जीता हुआ धन वसूल करने के लिए अन्य जुआरी व्यक्तियों द्वारा पकड़ लिया जाता है तो उसके सभी सगे-संबंधी, माता-पिता, भाई-बहन आदि सभी उसे पहचानने से इनकार कर देते हैं। ऐसी स्थिति आने पर वे कहते हैं कि हम इसे नहीं जानते हैं भले ही आप इसे बंदी बनाकर यहाँ से ले जाइये ।[34]

जब व्यक्ति को इन पासों द्वारा जुआ खेलने की लत पड़ जाती है तो अनेक बार न खेलने का दृढ़ निश्चय करने पर भी वह अपने आप को रोक नहीं पाता और ठीक उसी प्रकार जुएँ खाने की ओर चला जाता है, जैसे - व्यभिचारिणी स्त्री अपने ग्राहक के पास पहुँच जाती है ।[35] जुएँ से सावधान करते हुए कहा गया हैं कि हे जुआरी! तुम जुआ मत खेलों। इसकी अपेक्षा खेती करके धन कमाओं और उसी में अपने परिवार के साथ आनन्द का अनुभव करों। ऐसा करने से ही गौ आदि अनेक भोग्य पदार्थों की प्राप्ति होगी, उसी से पत्नी भी प्राप्त होगी और दाम्पत्य सुख की प्राप्ति होगी ।[36]

वेदों में कुछ नियमों का विधान किया गया है - सत्य के मार्ग पर चलो ।[37] पराये धन का लालच मत करो ।[38] हम अपने राष्ट्र में जागृत होकर रहे ।[39] मातृभूमि की सेवा करो ।[40] सम्पूर्ण विश्व के उत्पादक प्रेरक देव से प्रार्थना की गयी है कि - तू हमारे, में कल्याणकारी गुणों को भर दे ।[41]

संदर्भ सूची

1. **ऋग्वेद** 10ध90ध12
2. **यजुर्वेद** 30ध5
3. **ऋग्वेद** 9ध112ध3
4. **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।**
   ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणायः।।-यजुर्वेद26ध2
5. **प्रियं प्रः कृणु देवेषु प्रियं राजसू मा कृणु।**
   प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उत्तार्य।। - अथर्वः 19ध62ध1
6. **अथर्ववेद**3ध5ध6 **और** 7ए **शतपथब्राह्मण** 3ध4ध1ध7
7. **(क) पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते**
   (ख) पत्न्यै व्रतोपनयनम्।-तैत्तिरीय ब्राए 3ध3ध3ध2
8. **ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। -अथर्व.**11ध5ध18
9. **आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः। -अथर्व.**11ध5ध18
10. **तं त्वां हिन्वन्ति वेधसः पवमान गिरावृधम्।**
    इन्दविन्द्राय मत्सरम्।।-ऋ. 9ध26ध6
11. **ऋग्वेद**3ध33ध4
12. **जायेदस्तम्। ऋग्वेद** 3ध53ध4
13. **अथर्व.**14ध1ध21.22
14. **अथर्व.** 14ध1ध31
15. **अथर्व.**14ध2ध17.18 **और** 26.27
16. **अथर्ववेद**2ध36ध3.4
17. **अथर्व.**7ध36ध1
18. **अथर्व.**3ध30ध2
19. **अथर्व.**6ध112ध3
20. **ऋग्वेद.**10ध191ध2
21. **ऋग्वेद.**10ध191ध4
22. **अथर्व.**3ध30ध1
23. **अथर्व.**6ध18ध1
24. **अथर्व**3ध30ध4
25. **जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवीमथौकसम् ।**
    सहस्रं धारा द्रविणस्य में दुहां ध्रुवेव धेनुरनपम्फुरन्ती।।-अर्थव.12ध1ध45
26. **अथर्व.**1ध31ध4
27. **अथर्व.**3ध30ध1
28. **मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षम्भा स्वसारमुत स्वसा ।**
    सम्यवंच सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।। अथ. 3ध30ध3
29. **अथ.**6ध94ध1
30. **केवलाघो भवति केवलादि।-ऋ.**10ध177ध6
31. **दे हि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।**
    निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते। । -यजुर्वेद3ध50
32. **शतहस्तं समाहारए सहस्रहस्त संकिर ।-अर्थव** 3ध24ध5
33. **ऋग्वेद** 10ध34ध3
34. **ऋग्वेद** 10ध34ध4
35. **न्यूप्ताश्च वभ्रमो वाचमक्रतं एमादेषां निष्कृतं जारिणीव । ऋग्वेद** 10ध34ध5
36. **अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।**
    तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टै सवितामर्यः।। ऋग्वेद 10ध34ध13
37. **यजुर्वेद** 40ध15
38. **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। यजुर्वेद** 40ध1
39. **वयं राष्ट्रे जागृयाम् पुरोहिताः।। यजुर्वेद** 9ध23
40. **ऋग्वेद** 10ध18ध10
41. **ऋग्वेद** 5ध82ध5